शिक्षा के सम्मुख वास्तविक चुनौती

❑ नंद किशोर आचार्य

इस बदल रहे परिवेश में शिक्षा की भूमिका क्या हो ? उसकी सार्थकता अर्थव्यवस्था की मांगों के सम्मुख घुटने टेक देने में है या स्वतंत्रता और सर्जनात्मकता की रक्षा करने में है : उसका प्राथमिक उत्तरदायित्व शिक्षार्थी के प्रति है या एक अनैतिक आर्थिक प्रक्रिया के प्रति ? ज्ञान की प्रासंगिकता स्वयं सिद्ध है या उसे बाजार की मांगों से अपनी प्रमाणिकता सिद्ध करनी है ? पिछले कुछ समय से शिक्षा के अघोषित या प्रच्छन्न पाठ्यक्रम से यही लगता है कि वह अपने को आर्थिक प्रक्रिया के समक्ष घुटने टेक देने के लिए तैयार करती जा रही है । लेकिन क्या ये उचित होगा ? क्या शिक्षा कोई विकल्प प्रस्तावित कर सकती है ? इन और ऐसे ही अन्य प्रश्नों पर इस लेख में विचार किया गया है । यह लेख कानोडिया महिला महाविद्यालय द्वारा पिछले दिनों शिक्षा पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत किया गया था ।

शिक्षा के महत्व को रेखांकित करते हुए अक्सर कहा जाता है कि वह समाज का निर्माण करती है, शिक्षक राष्ट्र निर्माता होता है, और शिक्षा पद्धति में परिवर्तन द्वाराही समाज में परिवर्तन लाया जा सकता है । ये सभी बातें गलत नहीं हैं, लेकिन पूर्ण सत्य भी नहीं हैं और अर्धसत्य के रूप में भी ये प्रभावहीन हैं । जिस शिक्षा से हम समाज के पुनर्निर्माण की कामना करते हैं और वैसा न हो सकने पर उसे दोषी ठहराते हैं, उसके प्रयोजन और प्रक्रिया का निर्धारण स्वयं समाज या उसकी किसी प्रतिनिधि संस्था द्वारा किया जाता है । अत: यह कहना अधिक संगत है कि शिक्षा समाज का वैसा ही निर्माण करती है, जैसा समाज शिक्षा का । दूसरे शब्दों में, समाज शिक्षा से प्रभावित होता है लेकिन तभी जब वह पहले उसे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार बना लेता है । जो शिक्षा समाज की जरुरतों की मांग पर खरी नहीं उतरती, उसे अप्रासंगिक मान लिया जाना स्वाभाविक ही है ।

अभी कुछ अर्सा पहले तक शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के बौद्धिक, भावात्मक और नैतिक गुणों का विकास, उसमें अन्तर्निहित संभावनाओं की अभिव्यक्ति या उसकी सर्जनात्मकता का विकास आदि माना जाता रहा है । शिक्षा को विनय, अमृतत्व और मुक्ति देने वाली कहा गया है । ये सभी बातें ऐसी हैं जिन्हें लेकर शिक्षा शास्त्रियों में आज भी अतीव उत्साह देखने को मिल सकता है । फिलहाल, यदि इस बहस को एक बार छोड़ भी दें कि शिक्षा इन सब उद्देश्यों को प्राप्त करने में कहां तक सफल हुई है, तो भी पहले यह विचार करना जरूरी है कि उपर्युक्त उद्देश्यों की आज के वातावरण में क्या प्रासंगिकता रह गयी है ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम इन बातों को एक आदत की तरह अविचारित ही दोहराते चले जाते हैं, जबकि समाज के विकास की जो दिशा और गति है, उसमें ये उद्देश्य वास्तव में बाधा ही अधिक साबित होते हैं ?

जिसे हम सामाजिक प्रासंगिकता कहते हैं, उसका वास्तविक तात्पर्य आज आर्थिक प्रासंगिकता हो गया है । शिक्षा को रोजगार से जोड़ने का आग्रह सिर्फ शैक्षिक आग्रह नहीं है, वह पहले एक आर्थिक आग्रह है । और अब केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि शिक्षार्थी को किसी शिल्प या व्यवसाय में तकनीकी प्रशिक्षण दिया जाय, बल्कि उसे उन सभी तरीकों की जानकारी और प्रशिक्षण देना जरूरी है जिससे वह सब उचित-अनुचित तरीकों को बेहिचक अपना सके, जिनके बिना केवल तकनीकी कुशलता के बल पर वह अपना रोजगार सफलतापूर्वक नहीं चला सकता । क्या इस का एक तात्पर्य यह नहीं है कि भौतिक गुणों के विकास के बजाय नैतिक बोध से छुटकारा पा लेना ही आज के समाज में सफलता के लिए अनिवार्य योग्यता होता जा रहा है ? ऐसी स्थिति में शिक्षा के लिए क्या वांछनीय है?

अर्थ-व्यवस्था के केन्द्रीय महत्व प्राप्त करते चले जाने के कारण व्यक्ति भी मूलत: एक आर्थिक प्राणी बनते चले जाने को अभिशप्त है। अर्थशास्त्र की दृष्टि से व्यक्ति की सार्थकता इस बात में है कि वह या तो उत्पादन-प्रक्रिया का अंग हो या उपभोग-प्रक्रिया का । वह अनिवार्यत: एक उपभोक्ता है और अधिकांशत: उत्पादन-प्रक्रिया का परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष हिस्सा भी । और वह जितना अधिक उपभोक्ता है, उतना ही अर्थव्यवस्था के लिए उपयोगी भी। यदि समाज में त्याग और संयम के आदर्श प्रभावी होते हैं तो यह आधुनिक अर्थव्यवस्था के हितों के प्रतिकूल होगा और यदि शिक्षा सादगी, संयम और त्याग-वृत्ति को वरीयता देगी तो एक उपभोग आश्रित अर्थव्यवस्था उसे अपना समर्थन कैसे दे सकेगी ? यही नहीं, ऐसी शिक्षा-प्रक्रिया से निकले शिक्षार्थी भी आधुनिक

अर्थव्यवस्था की जरूरतों के हिसाब से अप्रासंगिक होंगे, अत: स्वयं उन्हें भी इस अर्थव्यवस्था के चलते अपनी आजीविका के रास्ते में दिक्कतें पेश आयेंगी । सवाल यह है कि जब अर्थव्यवस्था उपभोग और छल पर आधारित हो तो शिक्षा त्याग, संयम और सच्चाई को अपना प्रयोजन कैसे मान सकती है ? क्या इसलिए शिक्षा का 'घोषित पाठ्यक्रम' चाहे कुछ भी हो, पर जिसे इवान इलिच 'प्रच्छन्न पाठ्यक्रम' कहते हैं, वह आज विद्यार्थी में उपभोग और नीति निरपेक्षता का विकास ही है । अर्थशास्त्र शिक्षा को संसाधन मानता है । यह क्या केवल संयोग ही है कि भारत में नयी अर्थनीति के लागू होने से कुछ ही पूर्व नयी शिक्षा-नीति घोषित की गयी, जिसमें शिक्षा को संसाधन मानते हुए शिक्षा मंत्रालय को 'मानव संसाधन विकास मंत्रालय' कहा गया और न केवल नयी अर्थनीति का बहुचर्चित उदारीकरण शिक्षा के क्षेत्र में 'निजीकरण' की बढ़ती हुई मांग के रूप में दिखाई देने लगा बल्कि विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों से अपनी अलग आय विकसित करने का आग्रह किया जाने लगा। अर्थ शास्त्र के पास किसी भी मानवीय क्रियाशीलता के औचित्य को परखने की कसौटी आर्थिक प्रासंगिकता है । जिस काम से लाभ होता है, वह प्रासंगिक है, अन्य सब कुछ अनार्थिक होने के कारण अप्रासंगिक है । अनार्थिक होना अब तो बड़ी अयोग्यता है, इसलिए यदि शिक्षा भी धीरे-धीरे इस आर्थिक कसौटी के प्रभाव के अन्तर्गत आती चली जाय तो इसे स्वाभाविक ही नहीं, वांछनीय कहा जाना चाहिए । नयी अर्थनीति में हमारे यहां बाजार को ही सर्वोच्च मान लिया गया है और पूंजीवादी समाजों की तकनीकी पर आश्रित राज्याधारित समाजवाद की असफलता के बाद पूरे विश्व में यही त्यागमय सर्व-स्वीकृत मान्यता बन रही है इसलिए समाज यदि देखता है कि शिक्षा इस बाजारू व्यवस्था के अनुकूल है या नहीं तो इसे गलत कैसे कहा जाय ? क्योंकि अब नैतिक अनैतिक के बोध को भी बाजार की संप्रभुता के अन्तर्गत आना पड़ रहा है और शायद यही कारण है कि आज हम नैतिक अनैतिक से अधिक चिन्ता कानूनी गैर कानूनी की करने लगे हैं - और गैर कानूनी भी अंततः वह है जिसे हम येन-केन प्रकारेण कानून के दायरे में साबित न कर सकें । इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं लगता कि कानून की शिक्षा की सार्थकता कानून का ज्ञान देने या उसका पालन करने की प्रेरणा देने में उतनी नहीं मानी जाती, जितनी गैर-कानूनी को कानूनी जामा पहनाने की योग्यता पैदा करने में ।

शिक्षा की समस्याएं हमारे युग की गंभीरतम समस्याओं का प्रतिबिम्ब मात्र है । इन्हें संगठन, प्रशासन या अधिक रुपया खर्च करके नहीं सुलझाया जा सकता, हालांकि इन सबका अपना महत्व है । हम दरअसल एक तत्वमीमांसीय रोग के शिकार हैं, इसलिए इसका इलाज भी तत्वमीमांसीय होना चाहिये । जो शिक्षा हमारी मुख्य धारणाओं की सुस्पष्ट नहीं करती, वह केवल प्रशिक्षण है या मात्र एक व्यसन है। सच बात यह है कि हमारी मुख्य धारणाएं ही गड़बड़ा गयी हैं और जब तक आज का तत्वमीमांसीय-विरोधी वातावरण बना रहेगा, अव्यवस्था और बढ़ती जायेगी। ऐसी हालत में शिक्षा मनुष्य का सबसे बड़ा संसाधन बनने के बजाय विनाश का माध्यम ही बनेगी।

अर्थशास्त्र आर्थिक-प्रक्रिया को नैतिक दृष्टि से एक मूल्य निरपेक्ष प्रक्रिया मानता है और अर्थशास्त्रीय चिन्तन इस मूल्य निरपेक्षता को एक सैद्धांतिक औचित्य देने का जरिया है । औचित्य निर्धारण के अपने आग्रह में वह न केवल नैतिक मूल्यों की उपेक्षा करता है बल्कि एक गलत नीतिशास्त्र को प्रोत्साहन देता है । आज से लगभग सत्तर वर्ष पूर्व प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कीन्ज ने आर्थिक प्रक्रिया में नैतिक गुणों की अवांछनीयता को रेखांकित करते हुए कहा था : " अभी तो आने वाले कम से कम सौ वर्षों तक हमें अपने आप को और प्रत्येक व्यक्ति को इस भुलावे में रखना होगा कि जो उचित है, वह गलत है और जो गलत है वह उचित है क्योंकि जो गलत है वह उपयोगी है, जो उचित है, वह नहीं । अभी हमें कुछ अर्से तक लालच, सूदखोरी और एहतियात की पूजा करनी होगी, क्योंकि इन्हीं की सहायता से हम आर्थिक आवश्यकताओं के अंधेरे रास्ते से निकलकर रोशनी में कदम रख सकेंगे।" इस सन्दर्भ में कुछ भारतीय अर्थशास्त्रियों द्वारा की गयी टिप्पणी भी स्मरणीय है कि कुछ हद तक काला धन आर्थिक विकास के लिए जरूरी है। कीन्ज ने जो बात सत्तर वर्ष पूर्व की पश्चिमी दुनिया के लिए कही थी, वह आज भारत के लिए भी उतनी ही सच है क्योंकि भारत भी पश्चिम के उसी रास्ते पर है और क्योंकि कीन्ज ने यह बात आर्थिक मंदी के दौर में कही थी, अत: यह केवल सौ वर्ष नहीं, सदा के लिए वांछनीय है क्योंकि मंदी के दौर में हमारे जैसे देशों की ही नहीं, दुनिया के सम्पन्नतर देशों में भी हर पांच-दस वर्ष के अन्तराल पर आते ही रहते हैं ।

इसलिए जब हम कहते हैं कि शिक्षा का परिवेश बदल रहा है तो नैतिक सन्दर्भ में इसका एक निहितार्थ क्या यह नहीं होता कि अब शिक्षा का उद्देश्य स्वाधीन चेता, सर्जनशील या त्यागी-संयमी व्यक्तित्व का विकास नहीं, बल्कि ऐसे व्यक्तित्व का विकास होना

चाहिए जो आधुनिक और आज की भाषा में कहें तो उत्तर आधुनिक अर्थव्यवस्था के अनुकूल और उसकी जरूरतों के प्रति समर्पित हो। सच तो यह है कि इस अर्थव्यवस्था को स्वाधीनचेता व्यक्तियों की तो क्या स्वाधीनता समाजों या राष्ट्रों की भी जरूरत नहीं है । क्योंकि ऐसे राष्ट्र या समाज उसकी प्रक्रिया में बाधा सिद्ध होते हैं। इसलिए यह जरूरत महसूस की जाने लगी है कि सम्प्रभुता को कोई पवित्र अवधारणा न माना जाये । अर्थव्यवस्था की मान्यता यह लगती है कि यदि संप्रभुता और स्वतंत्रता को अनार्थिक धारणाएं सिद्ध कर दिया जाये तो समाज को उन्हें त्याग देने या आर्थिक आवश्यकता के अनुकूल संशोधित करने के लिए समझाया जा सकता है। स्वयं ज्ञान की अवधारणा पर आर्थिक कसौटी का स्पष्ट असर दिखाई देने लगा है। शिक्षा ज्ञान का संप्रेषण तो आज भी है पर ज्ञान की परिभाषा और प्रयोजन में उल्लेखनीय बदलाव आ रहा है। उत्तर आधुनिक समाज-समाजशास्त्री ल्योतार ने 'दि पोस्ट मार्डन कंडीशन : ए रिपोर्ट ऑन नॉलेज' में स्पष्ट कहा है कि अब व्यावसायिक शिक्षार्थी 'क्या यह सत्य है' के बजाय 'इसका उपयोग क्या है', पूछते हैं । अर्थशास्त्र की शब्दावली में यही सवाल क्या, 'यह विक्रय योग्य है' तथा सत्ता संवर्धन की शब्दावली में क्या यह कुशल हो जाता है । अब ज्ञान का मानक सत्य असत्य या न्याय अन्याय नहीं बल्कि उसकी सफलता या कार्य-निष्पत्ति है, वह कार्य जो नीति-निर्णायकों द्वारा तय किया गया हो।

सवाल यह है कि इस बदल रहे परिवेश में शिक्षा की भूमिका क्या हो ? उसकी सार्थकता अर्थव्यवस्था की मांगों के सम्मुख घुटने टेक देने में है या स्वतंत्रता और सर्जनात्मकता की रक्षा करने में ? उसका प्राथमिक उत्तरदायित्व शिक्षार्थी के प्रति है या एक अनैतिक आर्थिक प्रक्रिया के प्रति ? ज्ञान की प्रासंगिकता स्वयंसिद्ध है या उसे बाजार की मांगों से अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करनी है पिछले कुछ समय से शिक्षा के अघोषित या प्रच्छन्न पाठ्यक्रम से यही लगता है कि वह अपने को आर्थिक प्रक्रिया के सम्मुख घुटने टेक देने के लिए तैयार करती जा रही है । लेकिन क्या यह उचित होगा? क्या शिक्षा कोई विकल्प प्रस्तावित कर सकती है ?

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री पाअलो फ्रेअरे ने शिक्षा को अपने यथार्थ के प्रति आलोचनात्मक बोध की ऐसी प्रक्रिया माना है जो हमें उसके साथ प्रभावी प्रतिक्रिया करने की और ले जाती हो। यथार्थ के बोध का तात्पर्य केवल उसकी तथ्यात्मक जानकारी से नहीं, बल्कि औचित्य विवेक से भी है। यदि यथार्थ वांछनीय नहीं है तो शिक्षा की सार्थकता उसे बदलने की ओर सचेष्ट होने में है । इसी सूक्ष्म अर्थ में शिक्षा केवल ज्ञान-संप्रेषण की क्रिया ही नहीं, बल्कि गहरे स्तरों पर एक राजनीतिक कर्म भी हो जाती है। जिन अर्थों में लोहिया ने धर्म को दीर्घकालीन राजनीति और राजनीतिक को अल्पकालिक धर्म कहा था, उन्हीं अर्थों में शिक्षा राजनीति और धर्म दोनों एक साथ होती है । 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल सांइसेज' में शिक्षा को एक वयस्क होते हुए व्यक्ति के समूह के जीवन में शामिल होने की प्रक्रिया कहा गया है, पर वह यह नहीं भुला सकती कि उसका प्रथम उत्तरदायित्व अपने शिक्षार्थी के प्रति है, इसलिए समूह में उसका प्रवेश एक सजीव पुर्जे की तरह नहीं, बल्कि एक स्वाधीनचेता, नैतिक और सर्जक व्यक्तित्व की तरह होना चाहिए। इसलिए आज शिक्षा की सार्थकता की एक कसौटी यह भी है कि वह इस वर्तमान अनैतिक अर्थव्यवस्था की मांग को पूरा करने के बजाय इसके खिलाफ विद्रोह कर सकने वाले शिक्षार्थी निर्मित कर पाती है या नहीं ?

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री पाअलो फ्रेअरे ने शिक्षा को अपने यथार्थ के प्रति आलोचनात्मक बोध की ऐसी प्रक्रिया माना है जो हमें उसके साथ प्रभावी प्रतिक्रिया करने की और ले जाती हो। यथार्थ के बोध का तात्पर्य केवल उसकी तथ्यात्मक जानकारी से नहीं, बल्कि औचित्य विवेक से भी है। यदि यथार्थ वांछनीय नहीं है तो शिक्षा की सार्थकता उसे बदलने की ओर सचेष्ट होने में है । इसी सूक्ष्म अर्थ में शिक्षा केवल ज्ञान–संप्रेषण की क्रिया ही नहीं, बल्कि गहरे स्तरों पर एक राजनीतिक कर्म भी हो जाती है ।

हम अपने लिए कैसी शिक्षा की जरूरत महसूस करते हैं ? इस सवाल का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि कौन सी आसन्न चुनौतियां हैं जिनका प्रत्युत्तर देने के लिए हम अपने को तैयार रखना चाहते हैं । संपूर्ण विश्व का भी एक भविष्य हो सकता होगा, लेकिन प्रत्येक समाज की अपनी एक विशेष अस्मिता और परिस्थिति है और भविष्य की शिक्षा के बारे में सोचते हुए हमारा मुख्य सन्दर्भ अपना समाज ही स्वाभाविक और युक्तिसंगत है - बल्कि विश्व के साथ हमारे रिश्ते ओर उसके माध्यम से वैश्विक समस्याओं के समाधान में हमारा योगदान भी उसी से प्रेरित हो सकता है ।

शिक्षा की प्रक्रिया मूलत: एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है क्योंकि उसका उद्देश्य संस्कृति की निरन्तरता और परिष्करण-परिवर्धन है । संस्कृति मानवीय चेतना और व्यवहार का गुणात्मक उत्कर्ष है, लेकिन अलग अलग समाजों में उसकी अभिव्यक्ति के रूप और बलाघात भिन्न होते हैं । आम तौर पर जब सर्जनशीलता की बात की जाती है तो उसका तात्पर्य कलाओं या साहित्य अथवा विज्ञान की आविष्कारक प्रतिभा ही मान लिया जाता है । लेकिन मानवीय

सर्जनशीलता तो इस से कहीं अधिक बड़ी और व्यापक प्रवृत्ति है। मनुष्य अभी तक सर्जनशील प्राणी है - जो कि वह है तो उसकी इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति हर स्तर पर वांछनीय है। उसका प्रत्येक कर्म और रिश्ता सृजनशील होना चाहिये और यह तभी संभव है जब हम मानव और प्रकृति दोनों के साथ अपने रिश्ते में एक सर्जनानुभव कर सकें । व्यक्तियों की तरह समाजों की भी अपनी विशिष्ट सर्जनशीलता होती है और उन समाजों के लिए आदर्श शिक्षा वही मानी जा सकती है जिसके आधार पर प्रत्येक समाज अपने सम्मुख प्रस्तुत होने वाली चुनौतियों का अपने को बनाये रखते हुए सर्जनात्मक प्रत्युत्तर दे सके । यही संस्कृति का सर्जनात्मक विकास है।

शिक्षा की प्रक्रिया मूलत: एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है क्योंकि उसका उद्देश्य संस्कृति की निरन्तरता और परिष्करण–परिवर्धन है । संस्कृति मानवीय चेतना और व्यवहार का गुणात्मक उत्कर्ष है, लेकिन अलग अलग समाजों में उसकी अभिव्यक्ति के रूप और बलाघात भिन्न होते हैं । आम तौर पर जब सर्जनशीलता की बात की जाती है तो उसका तात्पर्य कलाओं या साहित्य अथवा विज्ञान की आविष्कारक प्रतिभा ही मान लिया जाता है । लेकिन मानवीय सर्जनशीलता तो इस से कहीं अधिक बड़ी और व्यापक प्रवृत्ति है ।

रोजगार और आर्थिक विकास के सवाल निस्सन्देह प्रत्येक समाज के लिए महत्वपूर्ण सवाल होते हैं । लेकिन शिक्षा के लिए असली चुनौती इस बात में है कि वह इन सवालों का ऐसा समाधान प्रस्तुत कर सके जो समाज की अपनी विशिष्ट प्रतिभा और मूल्य बोध से प्रेरित हो । पिछले वर्षों में भारतीय समाज में उस मूल्यबोध की पूरी तरह से उपेक्षा की जाती रही है जिसे भारतीय मन धर्मबोध कहना अधिक पसन्द करता है । आर्थिक सवाल अपने मूल में एक सांस्कृतिक या कहें कि नैतिक सवाल भी है । दरअसल भारतीय समाज के सम्मुख यह सांस्कृतिक चुनौती औपनिवेशिक शासन के आरंभ से ही है और अब स्पष्ट है कि एक पंथवादी अर्थव्यवस्था के जटिल फैलाव के साथ-साथ यह चुनौती भारतीय समाज के अस्तित्व के लिए सबसे बड़ी चुनौती होने जा रही है ।

प्रत्येक कर्म एक प्रकार का आत्मसर्जन है । समाज अपने कार्य-व्यापार के माध्यम से ही तो अपने को रचता है । यह रचाव उत्कर्ष की ओर भी हो सकता है और अपकर्ष की ओर भी । जब कोई समाज किसी दूसरे समाज को अपना उपनिवेश बनाता है तो साथ ही वह अपने को भी एक शोषक या आततायी बना रहा होता है। इसी तरह जब कोई समाज किसी अन्य समाज को श्रेष्ठ मानकर उसके अविचारित अनुसरण में ही अपना विस्तार देखता है तो वह अपनी मौलिकता खो कर अपने एक सृजनशील समाज से अनूदित समाज में बदल रहा होता है ।

औपनिवेशिक शासन के आरंभ से ही भारतीय समाज धीरे-धीरे जिस चुनौती के सम्मुख आत्मसमर्पण करता जा रहा है वह एक प्रक्रिया राजनीतिक आजादी के बाद भी थमी नहीं है । यह चुनौती है एकपंथवाद - आर्थिक, राजनीतिक और साम्प्रदायिक एकपंथवाद - के सम्मुख बहुलवादी भारतीय सर्जनात्मकता का एक अनूदित समाज में बदलते जाना। यहां 'हिन्द स्वराज' में व्यक्त गांधी जी के विचारों का स्मरण प्रासंगिक होगा कि सारा हिन्दुस्तान गुलामी से घिरा हुआ नहीं है । जिन्होंने पश्चिमी शिक्षा पायी है और जो उसके पाश में फंस गये हैं, वे ही गुलामी से घिरे हुए हैं । भारतीय स्वाधीनता के संघर्ष के इस सबसे बड़े नेता द्वारा बताये गये गुलामी के इस लक्षण को कसौटी बना कर देखें तो पायेंगे कि आजाद भारत में इस गुलाम बनाने वाली शिक्षा के पाश में फंसे लोगों की संख्या बढ़ती ही गयी है - और अब सवाल केवल औपचारिक शिक्षा संस्थानों का नहीं है, हमारी औद्योगिक नीति और वैज्ञानिक संचार-साधनों के चलते सारे समाज की मानसिकता के इसी पाश में फंसने के आसार ज्यादा नजर आ रहे हैं।

कहा जाता है कि ज्ञान-विज्ञान की कोई राष्ट्रीयता नहीं होती। कुछ लोग यह कहते भी पाये जाते हैं कि हमें भारतीय और पश्चिमी तथा पुरातन और नवीन ज्ञान विज्ञान का समन्वयन करने का प्रयास करना चाहिये । सबसे पहले तो इस भ्रम से छुटकारा आवश्यक है कि ज्ञान-विज्ञान संस्कृति-निरपेक्ष है । यदि ऐसा होता तो प्राचीन समाजों में सभी जगह एक सरीखे ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ होता । लेकिन यदि एक मुद्दे को लेकर विभिन्न समाजों में बुनियादी अन्तर रहे हैं तो इसका मूल कारण विभिन्न समाजों की अपनी अलग अभिवृत्ति या उनकी सर्जनात्मकता का अपना अलग स्वरूप रहा है। स्वयं प्लेटो का कहना है कि हम क्या उत्तर पाते हैं, यह इस पर निर्भर करता है कि हम सवाल क्या पूछते हैं । अपने प्राकृतिक और मानवीय परिवेश के साथ एकात्मकता या 'अपृथकतासिद्ध भिन्नता' अनुभव करने वाले समाज में उस विज्ञान या प्रौद्योगिकी का विकास संभव नहीं है जो प्रकृति को अपने अलग तथा अपने उपभोग केलिए बनी नितान्त जड़ वस्तु मानने वाले समाज में होता है । साथ ही, यदि ज्ञान-विज्ञान की अपनी कोई विशिष्ट सांस्कृतिक अस्मिता नहीं होती, तो इतिहास में साम्राज्यवादी शासकों द्वारा शासित समाजों की ज्ञान-विज्ञान परम्परा को नष्ट करने के प्रयासों के ढेरों उदाहरण नहीं मिलते । पंडित सुन्दरलाल और धर्मपाल जी के अध्ययनों ने भारत के सन्दर्भ में भी इस बात को भलीभांति प्रमाणित कर दिया है ।

भारतीय और पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के समन्वय की बात करने वाले भी अक्सर भूल जाते हैं कि प्रत्येक समाज अपनी जरूरत पर अपने लिए अपनी विशिष्ट प्रकृति के अनुकूल समन्वय करता है और समन्वय का तात्पर्य समर्पण नहीं होता । वर्तमान में बौद्धिक जगत की स्थिति यह है कि हम हर मामले में पश्चिमी ज्ञान को प्रतिमान की तरह रखने और उसकी कसौटी और नजरिए से भारत और उसकी ज्ञान परम्परा को परखने की कोशिश करते हैं । प्राकृतिक विज्ञानों में ही नहीं, समाज विज्ञानों और मानवीकी विधाओं के क्षेत्र में भी कसौटी या प्रतिमान पश्चिमी ही माने जाते हैं । यहां तक कि भारतीय भाषाओं में भारतीय जीवन और चिन्तन को अभिव्यक्ति देने वाले साहित्य के सन्दर्भ में भी हम पश्चिमी साहित्यालोचन और सौन्दर्यशास्त्र को प्रमाण या कसौटी की तरह इस्तेमाल करते हैं कभी यह कोशिश नहीं की जाती कि हम अपनी दृष्टि और कसौटी से पश्चिमी और उसकी ज्ञान-परम्परा को समझने का अध्यवसाय भी करें । संभवत: गांधी जी अकेले ऐसे विचारक हैं जिन्होंने भारतीय दृष्टि-धर्म बोध वाली दृष्टि के आधार पर आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को समझने का उद्योग किया । अपनी आर्थिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं में अनुवाद होते जा रहे एक समाज में शिक्षाकी वास्तविक भूमिका उसे फिर एक सर्जक समाज बनाना ही हो सकती है । सर्जक समाज होने का मतलब है इस समाज का अपने आत्म में प्रतिष्ठित होना और शिक्षा के संदर्भ में आत्म का मतलब है अपनी अर्थात स्वदेशी विचारणाओं का पुन: प्रवहमान होना। अन्यथा शिक्षा और विकास की जिस प्रक्रिया में हम अभी चल रहे हैं वह जितनी कुशलता और तीव्रता से चलेगी उतना ही जल्दी हम भी उस स्थिति में पहुंच जायेंगे, जिसका संकेत ल्योतार के पूर्व उद्धत वक्तव्य में किया गया है ।

क्या हमें यह स्थिति स्वीकार्य होगी ? या अभी भी हम एक ऐसे विकल्प की तलाश को बेहतर मानेंगे जिसमें हम न केवल हम बने रह सकें बल्कि उपभोग और बिक्री से बड़ा दर्जा सत्य को दे सकें ? साथ ही, यह भी स्पष्ट हो सकना चाहिए कि भारत की आर्थिक समस्याओं का व्यावहारिक हल भी भारत की अपनी स्वदेशी तकनीकी तथा उस पर आधारित उत्पादन प्रणाली और विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था में ही है । अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवादी के अस्त्रों को अपना कर अपने को बचाना संभव नहीं होगा । उससे असहयोग ही संघर्ष का एकमात्र रास्ता है और यह रास्ता जिस तकनीकी के विकास की जरूरत की ओर ले जाता है उसकी जड़ें स्वदेशी ज्ञान-विज्ञान में ही मिल सकती है । हम जानते हैं कि अकेली शिक्षा-समस्या को समग्रत: हल नहीं कर सकती, लेकिन उसे कम से कम अपने सम्मुख प्रस्तुत समस्या की ठीक-ठीक पहचान कर सकने में अवश्य समर्थ होना चाहिए । यह पहचान ही समाधान की दिशा में पहला कदम है । और अन्त में मैं प्रसिद्ध अर्थशास्त्री शुमाकर की इस बात के साथ अपने वक्तव्य का समापन करना चाहूंगा कि शिक्षा की समस्याएं हमारे युग की गंभीरतम समस्याओं का प्रतिबिम्ब मात्र है । इन्हें संगठन, प्रशासन या अधिक रुपया खर्च करके नहीं सुलझाया जा सकता, हालांकि इन सबका अपना महत्व है । हम दरअसल एक तत्वमीमांसीय रोग के शिकार हैं, इसलिए इसका इलाज भी तत्वमीमांसीय होना चाहिये । जो शिक्षा हमारी मुख्य धारणाओं की सुस्पष्ट नहीं करती, वह केवल प्रशिक्षण है या मात्र एक व्यसन है। सच बात यह है कि हमारी मुख्य धारणाएं ही गड़बड़ा गयी हैं और जब तक आज का तत्वमीमांसीय-विरोधी वातावरण बना रहेगा, अव्यवस्था और बढ़ती जायेगी। ऐसी हालत में शिक्षा मनुष्य का सबसे बड़ा संसाधन बनने के बजाय विनाश का माध्यम ही बनेगी।◆

आजादी से पंद्रह साल पहले कांग्रेस की अंतरिम सराकरों ने प्राथमिक शिक्षा के लिए एक योजना शुरू की थी । 1950 में बने आजाद भारत के संविधान के अनुच्छेद 45 के तहत चौदह साल तक के सभी बच्चों के लिए नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान किया गया था । भारतीय मध्य वर्ग हमेशा से शिक्षा को बेहद महत्व देता था और इस प्रावधान को उसका समर्थन मिलना चाहिए था। लेकिन, असल में मध्य वर्ग उच्च शिक्षा का पैरोकार निकला, क्योंकि प्राथमिक शिक्षा तो उसे मिल ही चुकी थी । नीतिगत स्तर पर प्राथमिक शिक्षा पर बल जरूर दिया जाता रहा, लेकिन मध्य वर्ग के दबाव के कारण उच्च शिक्षा में भारी और नितांत अनुचित वृद्धि हुई । चूंकि संसाधन बहुत सीमित थे, इसलिए उच्च शिक्षा का विस्तार शिक्षा संबंधी अन्य प्राथमिकताओं की कीमत पर ही हो सकता था । यही कारण है कि आज भारत विश्वविद्यालयों और उच्च शिक्षा के अन्य संस्थानों में चीन के मुकाबले छ: गुना अधिक छात्र भेजता है, परंतु उसकी लगभग आधे से ज्यादा आबादी निरक्षर है जबकि चीन में वयस्क साक्षरता की दर अस्सी फीसदी को छू रही है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि भारत में शिक्षा का असमान विकास भारतीय समाज की संरचना से सीधा जुड़ा हुआ था । शिक्षा में असमानता वास्तव में भारत के विभिन्न समूहों के आर्थिक और सामाजिक अधिकारों की असमानता का ही प्रतिबिंब थी और शिक्षा संबंधी असमानताएं सामाजिक असमानताओं का परिणाम थीं और उन्हें बनाए रखने में मदद भी करतीं थीं ।

भारत के मध्यवर्ग की अजीब दास्तान - पवन कुमार वर्मा